॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

श्रीहरिदास निवास पत्रिका

द्वैमासिक

वर्ष १ **अङ्क** १

प्रकाशन तिथि :— गुरु पूर्णिमा, संवत २०६७, २५ जुलाई २०१०

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन- २८११२१, मथुरा, उ०प्र०

सम्पादक : श्री हरिदास शास्त्री

संस्थापक एवं अध्यक्ष :

श्रीहरिदास शास्त्री गो सेवा संस्थान

श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन।

सम्पर्क सूत्र :—

0565 3202322, 0565 3202325 **(सम्पादक,** श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन **)**

09837172853, 09358703224 श्रीहरिदास निवास, पुरानी कालीदह, वृन्दावन

09313103109 नोएडा

09810098122, 09350261671, 09350110116 दिल्ली

Website: www.sriharidasniwas.org

E-mail: patrika@sriharidasniwas.org

info@sriharidasniwas.org

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

सम्पादकीय

"इह हि सुखदु:खप्राप्तिपरिहारयोर्लोकप्रवृत्तिर्दृश्यते।"

अनादिकाल से जीव दु:खनिवृत्ति और सुखप्राप्ति की लालसा को हृदय में धारणपूर्वक निरन्तर नाना योनियों में भ्रमणकर रहा है। किन्तु अविद्याग्रस्त जीव दु:खनिवृत्ति एवं सुखप्राप्ति का यथार्थ उपाय लाभ न करके मरुभूमि में विचरणरत जल पिपासु मृग के समान संसार मरीचिका में केवल दु:ख भोग करता आ रहा है। इस दु:खभोग का एकमात्र निदान है भगवद्बहिर्मुखता। अर्थात् भगवद्बहिर्मुखता दोष ही समस्त प्रकार के दु:खों और अनर्थों का कारण है। दु:खनिवृत्ति एवं परमानन्द की प्राप्ति का कारण है भगवदुन्मुखता। श्रीमद्भागवत के ११/२/३७ में कहा गया है–

"भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यादीशादपेतस्य विपर्य्ययोऽस्मृति:।
तन्मायया तो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥"

अर्थात् ईश्वर से विमुख पुरुष का उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति होकर द्वितीय वस्तु (जड़ शरीर) में अभिनिवेश हो जाता है। इस अभिनिवेश के कारण नाना प्रकार (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इत्यादि) के भय होते रहते हैं। अतएव बुद्धिमान पुरुष को अपने गुरु को आराध्यदेव व परम प्रिय जानकर उनकी अनन्यभक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिए।

उपरोक्त सुसम्वाद शास्त्रों में गुह्यरूप में विद्यमान होने के कारण लोगों के कर्णगोचर नहीं था। एकमात्र कलियुग पावनावतार करुणापारावार श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के अन्तरङ्ग परिकर श्रीरूप-सनातन प्रमुख गोस्वामिगणों ने ही सर्वप्रथम लोक में इसकी घोषणा की। इन लोगों के द्वारा रचित ग्रन्थावली विश्व साहित्य साम्राज्य का एक महार्घ्य सम्पद है। मनुष्य जीवन में सर्वाङ्गीण विकास के लिए इन ग्रन्थों का पठन-पाठन अनिवार्यरूप से विधेय है। इन अमूल्य ग्रन्थों एवं इनमें वर्णित सिद्धान्तों, आचारसंहिताओं के संरक्षण, सम्वर्द्धन एवं अनुशीलन के लिए आवश्यक है कि जनसामान्य को इनके विषय में पर्याप्त ज्ञान हो। परम करुण श्रीश्रीगौर-गदाधर की निरुपाधिक कृपा से इसी लक्ष्य को मन में रखकर इस **"श्रीहरिदास निवास पत्रिका"** का शुभारम्भ किया जा रहा है। आशा है कि भक्तवृन्द और सज्जनवृन्द इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

हरिदास दास

॥ श्रीश्रीगौरगदाधरौ विजयेताम् ॥

उत्तमाभक्ति :— एक परिचय— भाग- १

श्रीहरिदास शास्त्री (न्यायाचार्य्य)

जिस उत्तमाभक्ति के आचरण से मानव में यथार्थरूप से मानवता का सञ्चार; अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेशरूप क्लेशसमूह का नाश; कृपा, सरलता, दया, कर्त्तव्यपरायणता, क्षमा, सत्य, अहिंसा, परोत्कर्ष सहनशीलता (निर्मत्सरता), धैर्य आदि सद्गुणों का विकास होता है उस भगवद्वशीकारिणी उत्तमा-भक्ति के विषय में ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का एकान्त कर्त्तव्य बनता है।

उत्तमाभक्ति के प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्यमहाप्रभु के परिकरगणों ने वेद उपनिषद पुराण आदि सत् शास्त्रों का विचारपूर्वक स्वरचित ग्रन्थों में उत्तमाभक्ति का निपुणतापूर्वक साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया है।

इन लोगों ने उत्तमाभक्ति को भगवान की अन्तरङ्गाशक्ति, स्वरूपशक्ति व ह्लादिनीशक्ति के रूप में स्थापित किया है। यह भक्ति बहिरङ्गाशक्ति अर्थात् मायिक त्रिगुण (सत्व, रज और तम) से सर्वथा भिन्न है। जीव ईश्वर से विमुख होने पर बहिरङ्गाशक्ति द्वारा आबद्ध होता है और स्वार्थी, झगड़ालू व लालची होकर केवल जड़ शरीर के सुख परायण होकर नाना प्रकार के क्लेश भोग करता रहता है। किन्तु उत्तमाभक्ति में भगवान के साथ एकता व अनुकूलता होती है। वह भगवान के साथ एक हृदय होकर रहता है। भगवान भी उसकी भक्ति के वशीभूत होकर रहते हैं।

भगवान के साथ एकता व अनुकूलता होने पर भक्त मनमुखी न होकर भगवदुन्मुख होता है। उसकी भगवान के साथ एकता व अनुकूलता आगे विकसित होकर 'त्याग समर्पण और सेवा' के रूप में प्रकट होता है।

त्याग का अभिप्राय है दैहिक (विद्या, जाति, कुल, धन, जन, रूप आदि)अभिमान का परित्याग। इस अभिमान के रहते हुए जड़ शरीर में मिथ्या आवेश होता है जो भगवत् सेवा का विरोधी है। अतएव भक्त इन अभिमान का सम्यक् परित्याग करता है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि भक्त विद्या, जाति, कुल, धन, जन, रूप आदि में केवल अभिमान, आवेश का परित्याग करता है न कि पूर्णरूप से इनका क्योंकि भक्ति में विद्या, धनादि सबका स्थान है। इनके विना भला कैसे सेवा, परिचर्या सम्भव होगी ?

त्याग के बाद पूर्ण समर्पण होता है। भक्त में "माम् मदीयम् समर्पयामि" अर्थात् "हे भगवन्! मैं निज को व निज सम्बन्धित समस्त बस्तुओं (मन, देह, गेहादि), क्रियाओं को आपको समर्पित करता हूँ " ऐसी भावना विकसित होती है। अब वह भगवान में पूर्ण समर्पितात्मा होता है।

त्याग और समर्पण के बाद भक्त सम्यक्रूप से "दासोऽहम्" अर्थात् " मैं प्रभु का दास हूँ " को अनुभव करता है। इस प्रकार उसके अन्दर 'सेवा' की भावना आती है; वह शास्त्रीय वचन से काय मन वाक्य से सदा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में शुद्ध सेवा में लगा रहता है।

यहाँ तक सङ्क्षेप में उत्तमा भक्ति का परिचय एकता अनुकूलता, त्याग समर्पण सेवा के रूप में दिया गया। इसी को श्रीरूपगोस्वामिजी ने स्वरचित श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु में (१/१/११)— अन्याभिलाषिताशून्यम् इत्यादि श्लोक द्वारा सप्रमाण परिभाषित किया है। इस श्लोक के विषय में विचार अगले अङ्क में करेंगे।

श्रीश्रीगौड़ीय वैष्णव ग्रन्थावली—

श्रीचैतन्यचरितामृत

भृगुनाथ मिश्र
(एम.ए.संस्कृत)

श्रीलकृष्णदास कविराज गोस्वामी ने इस ग्रन्थ में श्रीचैतन्यमहाप्रभु व उनके परिकरों के जीवनी को लोकभाषा में; अपने अभूतपूर्व पाण्डित्य, अद्वितीय कवित्वशक्ति के द्वारा सुगम्भीर दर्शन, काव्यरस, अलङ्कार, इतिहास, नीतिशास्त्र प्रभृति विषयों के साथ प्रस्तुत किया है। 'मितञ्च सारञ्च वचोहि वाग्मिता' के उदाहरण स्वरूप इस ग्रन्थ में रचनाकार ने श्रीचैतन्यमहाप्रभु प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव धर्म के सैद्धान्तिक, व्यावहारिक व भावनात्मक समस्त विषयों का वर्णन अशेष दक्षता के साथ किया है।

इस ग्रन्थ में विविध वार्तालापों को इतने प्रभावपूर्णता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि उनके श्रवण, अध्ययन एवं मनन से शास्त्रों में वर्णित एकता अनुकूलता स्वरूप उत्तमाभक्ति के निगूढ़ सिद्धान्तों का यथार्थ ज्ञान अनायास होता है। उदाहरणार्थ— मध्यलीला के ऊनविंश परिच्छेद (अध्याय) का श्रीरूपगोस्वामिशिक्षा प्रसंग में वर्णित श्रीचैतन्यमहाप्रभु व श्रीरूपगोस्वामी का वार्तालाप विचारणीय है। इसमें ब्रह्माण्डमें जीव की अनन्तता, जीव की सूक्ष्मता, परमात्मा, जीवों के भेद, कृष्णभक्तजीव की निष्कामता अतएव उनका शान्तस्वरूप व श्रेष्ठता आदि का वर्णन सप्रमाण सरल शब्दों में हुआ है। ग्रन्थकार ने इसी वार्तालाप में भक्ति को लता, भक्त को माली, श्रीकृष्णचरण को कल्पवृक्ष, व पञ्चमपुरुषार्थ प्रेम को फल रूप में प्रस्तुतकर रूपक अलङ्कार का अद्भुत प्रयोगकरके वर्णित विषय को अतीव चमत्कारपूर्ण व सुगम बना दिया है।

इस ग्रन्थ की रचना का आधार वेद, उपनिषद, पुराण, पञ्चरात्र एवं श्रीरूपगोस्वामी आदि के ग्रन्थों के साथ-साथ श्रीस्वरूपदामोदर का कड़चा, श्रीमुरारिगुप्त का कड़चा एवं श्रीवृन्दावनदास ठाकुरकृत श्रीचैतन्य-भागवत है।

यह ग्रन्थ आदिलीला, मध्यलीला एवं अन्त्यलीला भेद से कुल तीन भागों में विभक्त है। आदिलीला में श्रीचैतन्यमहाप्रभु के आविर्भाव का तत्व व कारण, उनका स्वयं ब्रजेन्द्रनन्दनरूप से निरूपण, विविध बाल-लीला, पौगण्ड लीला आदि का वर्णन है। मध्यलीला में सन्यास परवर्ती घटना, राढ़देश भ्रमण, नीलाचल गमन, श्रीरूप-सनातन शिक्षा प्रसंग में सम्बन्ध-अभिधेय-प्रयोजन तत्व का निरूपण [जो कि समस्त शास्त्रों का मर्म है], श्रीमद्भागवतीय आत्माराम श्लोक का ६१ प्रकार की व्याख्या, मायावादियों का उद्धार आदि विविध लीलाओं का वर्णन है। अन्त्यलीला में शिवानन्द के कुक्कुर (कुत्ता) का आख्यान, छोटा हरिदास का वर्ज्जन, श्रीहरिदास ठाकुर की महिमा, भगवन्नाम महिमा, कालिदास का वैष्णवोच्छिष्ट प्रसंग, कविकर्णपूर का शिशु चरित्र, महाप्रभु का शिक्षाष्टक आस्वादन आदि का वर्णन है।

कहा गया है—

चैतन्यचरित शुन श्रद्धा-भक्ति करि। मात्सर्य छाड़िया मुखे बल हरि हरि॥
एई कलिकाले आर नाहि कोन धर्म। वैष्णव, वैष्णव शास्त्र, एई कहे मर्म॥

शास्त्र व गो :— धर्म के आधार स्तम्भ

जगन्नाथ दास
(बी.टेक., आई.आई.टी. कानपुर)

सभी प्राणियों के सृजन के पश्चात् ईश्वर ने जब मनुष्य की सृष्टि की तो वे अत्यन्त प्रसन्न हुए। क्योंकि मनुष्य में सभी प्राणियों की रक्षा करने की क्षमता है। अर्थात् ईश्वर चाहते हैं कि मनुष्य उनके द्वारा रची गई इस सृष्टि की देखभाल करे व सबकी रक्षा करे। इस कार्य को करने के लिए मनुष्य में रक्षा करने की प्रवृत्ति होनी चाहिए। सबकी रक्षा करने की व सबके पोषण करने की इस प्रवृत्ति को कहते हैं— धार्मिक प्रवृत्ति। इसका तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति के द्वारा मनुष्य ईश्वर की इच्छा के अनुसार सृष्टि को धारण करता है, उसे धर्म कहते हैं।

परन्तु मनुष्य तो इस मानव जन्म को प्राप्त करने से पूर्व अनादिकाल से विभिन्न प्रकार की योनियों में जन्म लेता आया है। एवं प्रत्येक जन्म में वह बारम्बार एक ही कार्य करता आया है— केवल अपने शरीर की रक्षा व पोषण। फलस्वरूप मनुष्य-शरीर में भी उसकी यही वृत्ति स्वाभाविक है। तो किस प्रकार वह धर्म मार्ग में चले? यह सम्भव है शिक्षा के द्वारा। सत् शिक्षा से ही मनुष्य में उत्तम मनुष्यत्त्व विकसित होता है। जिससे वह अपने रक्षण-पोषण के साथ-साथ ईश्वर के सम्पूर्ण सृष्टि के संरक्षण व संवर्धन के कार्य में प्रवृत्त होता है। फलस्वरूप सारा समाज सुखी होता है।

धर्म की शिक्षा के लिए ईश्वर ने मनुष्य को जो ज्ञान प्रदान किया है, वह शास्त्रों में उपलब्ध है। शास्त्रों का रचयिता कोई मनुष्य नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य स्वाभाविक रूप से मात्र अपने शरीर के ही रक्षण-पोषण का ज्ञान रखता है। धर्म का ज्ञान स्वयं ईश्वर ही दे सकते हैं। अर्थात् शास्त्र स्वयं ईश्वर से ही आता है। समाज के कल्याण के लिए इन शास्त्रों के संरक्षण व संवर्धन के कार्य अत्यन्त आवश्यक हैं। शास्त्र बने रहेंगे तो समाज में सत्-शिक्षा बनी रहेगी, धर्म बना रहेगा व सम्पूर्ण समाज सुखी रहेगा। अर्थात् शास्त्र ही धर्म की शिक्षा का एक आधार स्तम्भ है।

शास्त्रों से धर्म का ज्ञान पाकर उस ज्ञान को यदि आचरण में न लाया जाए तो समाज का हित नहीं होगा। अत: यह आवश्यक है कि मनुष्य इस ज्ञान को कार्यान्वित करे। तभी तो सबकी रक्षा होगी एवं समाज सुखी होगा। इसके लिए आवश्यक है कि धार्मिक शिक्षा पद्धति में इस बात को भी सम्मिलित किया जाए कि किस प्रकार मनुष्य में धर्म का आचरण करने की प्रवृत्ति हो। स्वभावत: मनुष्य होता है स्वार्थी, झगड़ालु और लालची। धर्म की सत्-शिक्षा मनुष्य को इन प्रवृत्तियों से ऊपर उठाकर अपने व समाज के हित के लिए कार्य करने में प्रवृत्त करती है। जिस प्रकार ईश्वर ने समाज को धर्म का ज्ञान देने के लिए शास्त्रों का सृजन किया है, उसी प्रकार मनुष्य को धार्मिक आचरण में प्रवृत्त करने के लिए एक विशेष प्राणी की सृष्टि की है। एक ऐसा प्राणी जो एक आदर्श के रूप में मनुष्य को धर्म का मार्ग दिखाता है । एक ऐसा प्राणी जिसकी सेवा से धर्म के मार्ग में चलने की प्रवृत्ति मनुष्य के हृदय में स्वत: जाग उठती है। वह आदर्श प्राणी है— **गो**। धर्म-मार्ग में चलने के लिए मूल रूप से दो प्रवृत्तियों की आवश्यकता है—निरपराधी होना एवं उपकारी होना। गो पूर्ण रूप से निरपराधी एवं उपकारी है। अर्थात् गो इन दोनों वृत्तियों का आदर्श है। इन वृत्तियों के कारण गो ईश्वर को अत्यन्त प्रिय है। जो गाय की नि:स्वार्थ सेवा करता है, ईश्वर उनके हृदय में इन दोनों वृत्तियों को प्रस्फुटित कर देते हैं। तब वह धर्म-मार्ग में प्रवृत्त होकर अपनी व दूसरों की रक्षा व पालन के लिए कार्य करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि **शास्त्र** एवं **गो** धर्म के दो आधार-स्तम्भ हैं।

श्रील रूप गोस्वामी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

लीला दासी
(बी.एच.एम.एस., पुणे)

मानव समाज के कल्याण के लिये भगवान् श्रीकृष्ण इस जगत में लगभग ५२५वर्ष पूर्व पुनः अवतरित हुए थे । उस अवतार में उनका नाम था श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु। धर्म का वास्तविक अर्थ उन्होंने आचरण कर के मानव समाज को सिखाया था। उस ज्ञान परम्परा को मानव समाज में स्थापित करने का कार्य उन्होंने बंगाल के दो भाइयों को सौंपा जो असाधारण मेधा व उच्च संस्कारों से युक्त थे। दोनों भाइयों ने समर्पित आत्मा होकर इस ज्ञान धारा को जगत् में स्थापित करने का कार्य किया। इन्हीं दो भाइयों में से एक थे श्रील रूप गोस्वामी।

श्रील रूप गोस्वामी के पूर्वज कर्नाटक राज्य से बंगाल में आकर बस गए थे। वे यजुर्वेदीय भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण कुल के थे। बाल्यकाल में इनका नाम रखा गया सन्तोष। उनके बड़े भई थे अमर और छोटे भाई थे वल्लभ। ये लोग पूर्वजों के परम्पराक्रम से अति समृद्धशाली एवं विद्वान थे।

अति मेधावी श्रीरूप कई भाषाओं में पारंगत थे। संस्कृत भाषा व कई शास्त्रीय विषयों व दर्शन-शास्त्रों में उन्होंने असाधारण पांडित्य प्राप्त किया था। वे बंगला इत्यादि अन्य भारतीय भाषाओं के भी विद्वान थे। साथ ही सरकारी कार्य करने के लिये उन्होंने तब प्रचलित फारसी आदि का भी अध्ययन किया था।

उनके सुशील स्वभाव से एवं मेधा से प्रभावित होकर बंगाल के राजा नबाब हुसैन शाह ने श्री रूप गोस्वामी को राज कार्य में नियुक्त कर उन्हें बंगाल के प्रधान मंत्री का पद दे दिया। उनके भाई अमर, जो बाद में सनातन गोस्वामी के नाम से ख्यात हुए, बंगाल के वित्त मंत्री बना दिये गए थे। राजा ने इन दोनों भाइयों को दबीर खास व साकर मलिक पदवी प्रदान किया। राजकार्य को दोनों भाइयों ने इतनी कुशलता के साथ सम्भाला था कि समय के साथ-साथ नबाब हुसैन शाह स्वयं सम्पूर्ण राजकार्य इन दो भाइयों के हाथ में सौंप कर स्वयं कई प्रकार के सुख भोग में लिप्त रहते थे।

एक दिन जब श्रीचैतन्य महाप्रभु जनसाधारण के मध्य में श्रीहरिनाम का प्रचार करते हुए रामकेली नगर पहुँचे तो वहाँ लोगों में आनन्द की लहरें फैल गयीं। हजारों लोग महाप्रभु के आकर्षक व्यक्तित्व व श्रीहरिनाम संकीर्त्तन से विमोदित होकर उनके अनुगत होने लगे। उस समय रामकेली के वासी दोनों भाई महाप्रभु की ओर आकृष्ट होकर उनके चरणों में गिर पड़े एवं उनके अनुयायी हो गए। महाप्रभु ने उनका नाम करण किया। बड़े भाई को सनातन व छोटे भाई को रूप नाम दिया। महाप्रभु के शरण में आकर दोनों भाइयों के अंतर्मन में व्याप्त दुःख की अनुभूति नष्ट हो गई।

महाप्रभु इस जगत में एक ऐसी ज्ञानधारा को प्रवाहित करने आए थे जो युग-युग से मानव समाज को उपलब्ध नहीं था। इस ज्ञान की गहराई तक पहुँच कर दोनों भाइयों को परमानन्द की अनुभूति हुई। दोनों महाप्रभु के ही रंग में रंग गए। उनकी मानसिकता, उनका चिन्तन व उनकी इच्छाएं महाप्रभु की मानसिकता से, महाप्रभु के चिन्तन से व महाप्रभु की इच्छाओं से एक हो गए।

श्रीरूप ने अपने समस्त सुख व वैभव को इस आनन्द समुद्र के समक्ष नगण्य समझ कर व महाप्रभु की ज्ञान-धारा को जगत में प्रचार करने की परमाश्यकता को समझकर, प्रधान मंत्री के पद को त्याग दिया। अपने परिवार व स्वजनों की जीविका व पोषण की पर्याप्त व्यवस्था कर के, श्रीरूप महाप्रभु की सेवा में तल्लीन हो गए। उनकी इच्छा के अनुसार वे श्री वृन्दावन धाम को पधारे। काल के प्रभाव से सम्पूर्ण वृन्दावन धाम जंगलों से ढक गया था। श्रीरूप गोस्वामी ने अन्य कुछ अनुयायियों के साथ विभिन्न बाधाओं से जूझते हुए सम्पूर्ण वृन्दावन धाम का उद्धार किया व महाप्रभु प्रदत्त ज्ञान धारा को यहाँ स्थापित किया।

शास्त्रीय ज्ञान धारा को स्थापित करने के लिये ग्रन्थों की आवश्यकता थी। परन्तु उस समय उत्तर भारत में अध्ययन-अध्यापन का ह्रास होने के कारण ये ग्रन्थ प्रायः दुष्प्राप्य थे। तब श्री रूप ने विद्वानों को दक्षिण भारत भेज कर वहाँ से हस्त-लिखित ग्रन्थों को मँगाकर श्री वृन्दावन धाम में शिक्षा परम्परा को स्थापित किया। यवन शासकों के काल में ही श्रीरूप ने इन कार्यों के लिये धन-शक्ति व जन-शक्ति एकत्रित किया। उनके व्यक्तित्व का प्रभाव देश-भर में विस्तृत हो गया।

भारत वर्ष के कोने-कोने से विद्वान-गण श्रीवृन्दावन धाम में उनके छत्र-छाया में आकर, समर्पित होकर शिक्षा ग्रहण करने लगे। इस प्रकार श्रीरूप ने उस स्थान को परम ज्ञान का एक स्रोत बना डाला। उनके इन सब कार्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने सारा जीवन महाप्रभु के मन के अभीष्ट को जगत में स्थापित करने के लिए महान कार्य किया। इसलिए कहते हैं– **श्रीचैतन्यमनोऽभीष्टं स्थापितं येन भूतले।**

प्राचीन काल में महाराज वज्रनाभ द्वारा निर्मित श्रीगोविन्ददेव जी का विग्रह कई सदियों से भूमि के नीचे दबा हुआ था। श्रीरूप गोस्वामीजी ने विग्रह का आविष्कार करवाकर उनको पुनः प्रतिष्ठित किया।

भागवत धर्म की शिक्षा व्यवस्था को समाज में स्थापित करने के लिए उन्होंने अनेकों ग्रन्थों की रचना की। उनमें प्रमुख है श्रीभक्तिरसामृत सिन्धु। आज के दिन महाप्रभु द्वारा स्थापित इस विशुद्ध ज्ञानधारा के संरक्षक व संवर्धक, परमपूज्य सन्त श्रीहरिदासशास्त्रीजी महाराज, इस उपादेय ग्रन्थ को "मानव समाज का संविधान ग्रन्थ" कहते हैं। "भक्ति" के गूढ़तिगूढ़ अर्थ को सर्व-प्रथम मानव समाज को इसी ग्रन्थ के माध्यम से समझाया गया। भक्ति शब्द का कई लोग कई प्रकार का अर्थ लगाते हैं। मगर इस ग्रन्थ में उन सभी अर्थों से परे जाकर "उत्तमा भक्ति" की व्यवस्था की गई है, जिसको समझने से व जिसका पालन करने से मनुष्य का वास्तव में कल्याण होता है।

श्री रूप गोस्वामी द्वारा रचे गए अन्य ग्रन्थ हैं श्री उज्ज्वलनीलमणि, श्री लघुभागवतामृत, श्री ललितमाधव नाटकम्, श्रीविदग्धमाधव नाटकम्, श्री प्रयुक्ताख्यात मञ्जरी इत्यादि।

External (Material) Resistance versus Internal (Non-Material) Resistance

Snehansu Mandal
[Ph.D., IIT Kanpur]

The pleasures and pains of this world have been a mystery for the human beings since ages. Philosophers and thinkers have often come up with different explanations behind the phenomena that we observe in this world. This essay also aims at understanding this mystery of "problems" that we face in our day-to-day life through the explanations understood from a higher source, the revealed scriptures. Here, we try to understand the phenomenon of resistance that we see in the world of matter (called external resistance, or friction), which appears to be the cause of difficulties that we face in life. Then we evaluate the phenomenon of resistance that we experience internally in our conscious beings and come to the understanding that internal resistance is the actual cause of our distress.

External resistance means opposition to motion or work or transfer of energy at the level of (gross) matter, i.e. among solid, liquid and gaseous particles. This external (material, gross) resistance depends on the combination of the concerned particles. It can be measured experimentally and recorded in an orderly manner. When a specific level of resistance is required to achieve a certain goal, a specific combination of particles is chosen to meet the required level of resistance. It is possible to adjust the different factors in the physical world, and thus it is possible to control the outcomes of physical activities. These factors, however, are not connected to any conscious being. There is no intention of a conscious being behind the idea of resistance in the physical world. It is not conscious of itself. It is inert. People often feel that difficulties that arise in life can be traced to factors like this external resistance. However, it is important to understand that external resistance can cause failure only in absence of proper knowledge. It cannot be the efficient cause of the failure. It is only an instrument or an intermediate factor that is controlled by causes more subtle. We can call these subtle causes internal resistance.

Internal resistance means opposition at the mental level, which eventually controls the external, physical world. Ontologically, it is non-material. It is connected to the intention and Paurush[1] of a person. Therefore, internal resistance is related to the consciousness of a conscious being. Internal resistance is, basically, a positive effort to achieve some positive effect which, being preventive in nature, looks negative in appearance. It is this internal resistance of a person or a group of persons, and not the external resistance, that prevents something from being done. It is always under the control of knowledge. This internal resistance is different from mental depression. At times, mental depression or a mental disease, may appear to be internal resistance due to its similar external symptoms. But mental depression is caused by ignorance or lack of knowledge and, therefore, it leads to the absence of control or order over the mind and the self. Mental depression is unintentional, negative, leading to lack of motivation and therefore, inaction, unwillingness to help others as well as one's own self. On the other hand, internal resistance is always intentional and positive and, therefore, active in nature.

Unintentional failures are always caused by ignorance or lack of knowledge about external (material) resistance and are, therefore, temporary in nature. They take place by chance, due to error. Unintentional failures can always be rectified by taking proper measures through the accomplishment of proper knowledge via experience. But intentional failures can never be rectified because they are achieved through proper knowledge, consciously. They do not take place by chance or by error. In this sense, intentional failures are not failures but are success only, due to the presence of correct knowledge and intention.

Both desirable incidents, based on Nyaya[2], and undesirable incidents, based on a-Nyaya[2], take place in society due to positive intentional effort backed by proper knowledge. Desirable and undesirable incidents are prevented also due to positive intentional effort known as internal resistance, which is first generated at the mental level. No action takes place on its own, without any intention or wish, the basic root cause. External (material) resistance is sustained by internal resistance only, through proper knowledge. Society becomes healthy, prosperous and content when internal resistance is used to prevent undesirable incidents instead of desirable incidents. Society becomes unhealthy, dissatisfied and doomed when internal resistance is used to prevent desirable incidents instead of undesirable incidents. Thus, internal resistance has to be increased to prevent unwanted incidents and at the same time, it has to be decreased to zero in order to promote wanted, peaceful happenings. Ultimately, it is the judicious use (based on Nyaya[2]) of internal resistance, which percolates to the physical world through the proper use of external resistance in controlling the quality of life. Nyaya[2], both as the means as well as the end, is the basis for sustenance of harmony and peace everywhere, at all times, independent of any cast, creed and race. Internal resistance is a subset of free will or Paurush1, which is the root cause behind this entire universe. Judicious use of this internal resistance is instrumental in achieving or implementing distaste (vairagya) through negation[3] on the path of renunciation (Sadhana). It is apparently negative, but it has ultimate positive effect when it is based upon nyaya[2] or justice.

[1] **Paurush:** It is the capability of a 'Purusha' (or an individual person) in taking independent decision or action, which is tagged with the reaction or result also, which is neither good nor bad, but is real and not imaginary. This action-reaction pair is inseparable and it effects the Purusha or the doer only and not anyone else. Action, or decision, is directly connected to the Paurush of the Purusha, where as the reaction comes back to the Purusha, indirectly, through an instrumental cause at a later time through the inertial platform (physical reality). Paurush excludes the possibility of misusing freedom (a-nyaya). One's Paurush is covered as soon as paurush is misused in the sense of freedom.

[2] **Nyaya:** Ontologically, it is non-material reality devoid of all the defects namely, *Bhrama, Pramada, Vipralipsa & Karanapatava.* It is an end in itself. Nyaya includes order, perfection, rhythm, pattern … all positive, perfect qualities. The four defects (basically, they include all other possible defects) are the basic ingredients for this external world. Nyaya (for example, the Vedantic structure) is also the means for attaining the perfect non-material reality called 'Nyaya'.

[3] **Negation:** It is an action by which one avoids all the above-mentioned defects on the path of Sadhana (renunciation). It is not 'Dry Renunciation'. It is not rejecting physical objects and going to the forest to live a life of seclusion. Negation, in this sense, is always positive in its action or application.